नैनीताल तराई

भूमि आंदोलन और पुलिस दमन

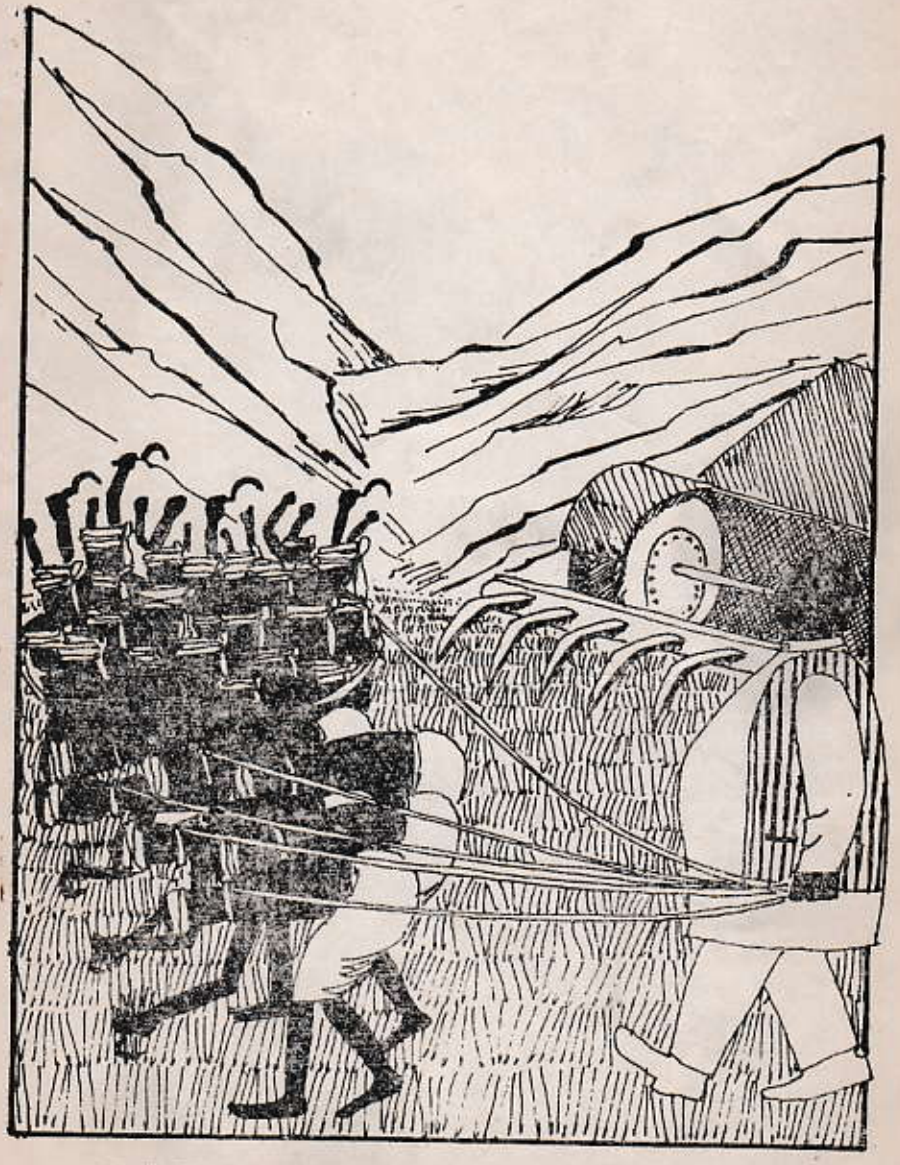

पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रैटिक राइट्स
दिल्ली
जुलाई 1989

भूमिका

पिछले साल दिसम्बर में 4000 भूमिहीनों ने उत्तराखण्ड भूमिहीन किसान संगठन (उ० भू० कि० सं०) के नेतृत्व में नैनीताल जिले में हल्द्वानी के नजदीक कोटखर्रा में वन विभाग की जमीन पर कब्जा किया। पी० ए० सी०, वन विभाग और पुलिस द्वारा भूमिहीनों की पिटाई, गिरफ्तारी तथा औरतों से छेड़-छाड़ की खबरें कुछ अखबारों में छपी थीं।

इन घटनाओं को तफसील से जानने और इनके कारणों की खोज हेतु पी० यू० डी०आर० ने एक तीन-सदस्या टीम भेजी, टीम ने 24 से 29 मई 1989 के दौरान हल्द्वानी, किच्छा और नैनीताल तहसीलों का दौरा किया तथा उत्तर प्रदेश किसान सभा और उ० भू० कि० सं० के कार्यकर्ताओं सहित कोटखर्रा के कई मजदूर परिवारों से बातचीत की, इसके अलावा विन्दुखत्ता में कब्जा की जमीन पर बसे व पुलिस हिंसा के बाद हल्द्वानी में धरने पर बैठे लोगों से भी मुलाकात की। वे नैनीताल के डी० एम०, हल्द्वानी के एस० डी० एम० और सहायक एस० डी० एस० तथा डौली रेंज के डी० एफ० ओ० से भी मिले। टीम नैनीताल के कलेक्टर तथा भूमि सीलिंग केस में वकील से प्राप्त सहायता का अनुमोदन करती है। अब टीम की रपट प्रस्तुत है।

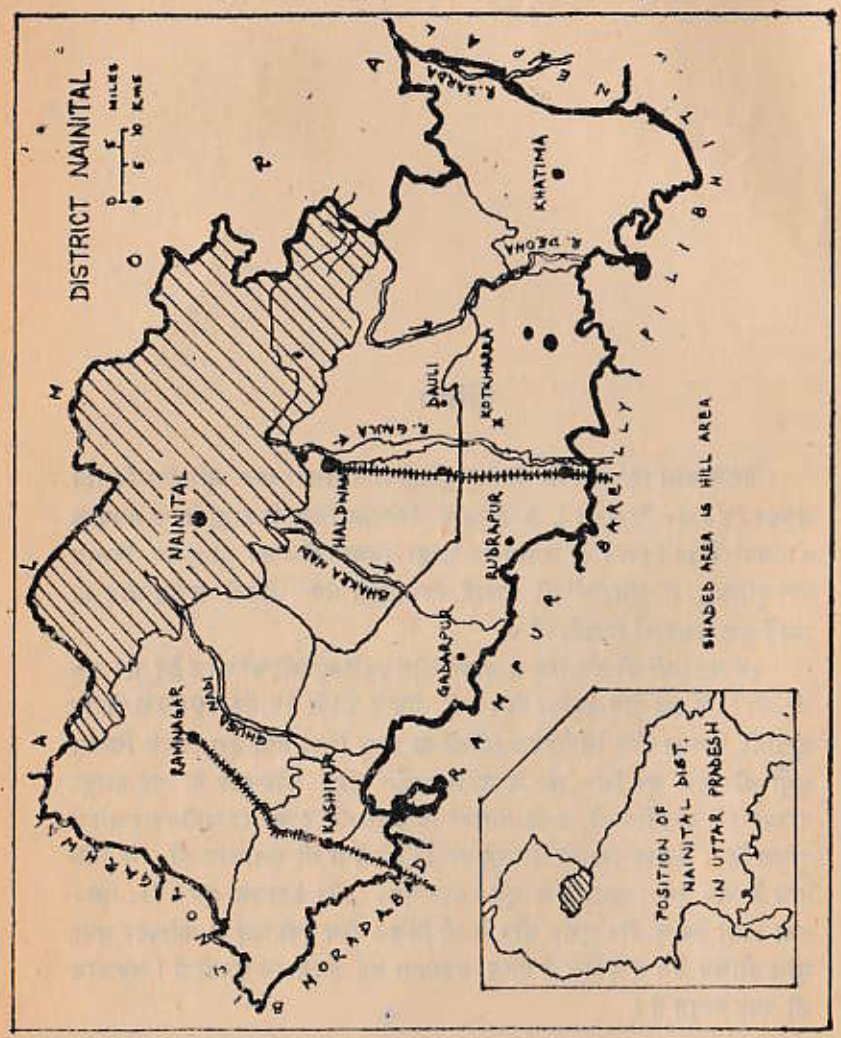

उत्तर प्रदेश के गढ़वाल कुमाऊं और देहरादून के पर्वतीय क्षेत्रों को सम्मलित रूप से उत्तराखण्ड कहा जाता है। इस क्षेत्र का सर्वाधिक मैदानी इलाका नैनीताल जिले में पड़ता है। नैनीताल का मैदानी इलाका 18 किलोमीटर चौड़ी दो पट्टियों में बंटा है। कम उपजाऊ 'भावर' क्षेत्र शिवालिक के नीचे पड़ता है और अधिक उपजाऊ 'तराई' क्षेत्र इसके दक्षिण में। ये तराई पूर्व में सारदा नदी से लेकर पश्चिम में काशीपुर शहर तक फैला है। दक्षिण में तराईबरेली, रामपुर, पीलीभीत और मुरादाबाद के मैदानी इलाकों में मिल जाता है। गेहूं, चावल और गन्ने के उत्पादन में यह क्षेत्र देश के सर्वाधिक उत्पादक क्षेत्रों में से एक है।

बड़े किसानों का आगमन

1950 तक तराई की सारी जमीन जंगलों और दलदल से भरी थी। इस सारी जमीन को 'खाम' भूमि कहा जाता था जिसका मतलब है कि सरकार इसकी मालिक थी। वनों में खेती शुरू करने की योजनाएं ब्रितानी शासन में ही शुरू हो गयीं थीं। द्वितीय महायुद्ध के सैनिकों को बसाने की योजना का पूरा कागजी काम 1945 तक पूरा हो चुका था। आजादी के बाद इस पर अमल की जिम्मेदारी रक्षा मंत्रालय को दी गई थी। 1946 में उत्तर प्रदेश की पहली राज्य विधायिका बनने के साथ ही तराई क्षेत्र को बसने योग्य बनाने की एक योजना बनाई गई। इसके तहत जमीनें गढ़वाल और कुमाऊं के पहाड़ी लोगों को दी जानी थी क्योंकि ऊंचाई पर सीढ़ीदार खेतों में साल के अधिकांश समय खेती नहीं होती और यह भी मौसम पर पूरी तरह निर्भर है। तराई में जंगली जानवरों और मलेरिया जैसी महामारियों के कारण यह योजना असफल रही।

1947 के विभाजन में आए शरणार्थियों को बसाने के लिए तराई में एक योजना बनाई गई। इसके तहत पहली बसावट 1952 में हुई जब पंजाब से आए शरणार्थियों को प्रति परिवार 12 एकड़ जमीन दी गई। इसके बाद पूर्वी बंगाल से आए परिवारों को प्रति परिवार 8 एकड़ जमीन दी गई। परन्तु इस आबंटन में केवल उन शरणार्थियों को जमीन दी जो अपने मूल स्थान पर भी जमीन के मालिक थे। बाद में स्वतन्त्रता सेनानी भी इस योजना में शामिल कर दिए गये।

इन सब योजनाओं के अलावा जमीनें निजी व्यक्तियों और सहकारी समितियों को 99 साल तक की लीजों पर दी गई जिससे कि यह भूमि आबाद हो सके। 'अधिक अन्न उपजाओ' का नारा इस योजना के लिए प्रेरक बना। कई प्रभावशाली व्यक्तियों, जैसे कि राजनीतिज्ञ, उद्योगपति, पुरानी रियासतों के नवाब और बम्बई के फिल्म अभिनेताओं ने इस योजना के तहत काफी ज्यादा जमीन हथिया ली। तराई का सबसे बड़ा निजी फार्म प्रयाग फार्म (लोगों के अनुमान से 16,000 एकड़) भी इसी समय शुरू हुआ। टाटा जैसे बड़े उद्योग-पतियों ने भी इस दौरान तराई में अपने फार्म शुरू किए।

भूमि के आबंटन तथा लोगों को बसाने में हुई धांधली के चलते बसावट की

योजनाओं के लागू होने से बड़े फार्म बने। रक्षा मन्त्रालय को जो जमीन जवानों में बांटनी थी वो ऊंचे सेनाधिकारियों ने हथिया ली जिनमें से कई, हजार एकड़ से ज्यादा के मालिक हैं। हमें बताया गया कि ऐसे लोगों में हैं मेजर जनरल चिमनी (4000 एकड़), कर्नल लाल सिंह (3000 एकड़) तथा एयर मार्शल अर्जुन सिंह (1000 एकड़)।

जो योजना पंजाब से आये शरणार्थियों के हित में थी, उसका फायदा चन्द जाट किसानों को पहुंचा, जिनके राजनैतिक 'आका' थे। इनमें सुप्रसिद्ध है प्रकाश सिंह बादल और सुरजीत सिंह बरनाला। बाकी ने बंगाली शरणार्थियों में बंटी जमीनें खरीदकर अपने इलाके में इजाफा किया।

पर्वतीय लोगों के लिए मुहट या जमीन को हासिल किया कुछ गिने चुने स्थानीय अफसरों और राजनीतिज्ञों ने। इनमें स्वर्गीय हेमवती नन्दन बहुगुणा, कमलापति त्रिपाठी सहित कुछ बी० डी० ओ० और पटवारी शामिल हैं। आबंटन के बाद ज्यादातर जमींदारों ने गैर आबंटित सरकारी भूमि पर कब्जा करके अपनी रियासतों को बढ़ाया।

इस तरह जो जमीनें छोटे किसानों और भूमिहीनों का अधिकार थीं, उत्तर भारत के प्रभावशाली लोगों की बड़ी-बड़ी जागीरों और फार्म-हाऊसों में तबदील हो गयीं।

विधायिका से पास होने के बीस साल बाद जमींदारी उन्मूलन एक्ट नैनीताल के तराई में लागू हुआ। इस एक्ट के तहत लम्बे समय के काश्तकारों को जोती गई जमीन पर मालिकाना हक दिया जाना था। परन्तु तराई में खेती बसावट के बाद ही शुरू हुई थी। इसलिए यहां जमींदार हुई सरकार और काश्तकार हुए बड़े-बड़े फार्म हाउसों और जमीनों के मालिक। इसलिए तराई के इन प्रभावशाली लोगों को जमीनों पर मालिकाना हक दे दिया गया जबकि यह कानून उत्तर प्रदेश के अन्य भागों में निष्फल रहा। एक नाटकीय खूबसूरती के साथ जमींदारी उन्मूलन एक्ट ने नैनीताल तराई में जमींदार वर्ग पैदा किया।

तराई की जमीन और मजदूर

जिस प्रक्रिया ने तराई में जमींदारों को पैदा किया उसी ने बड़े पैमाने पर भूमिहीन मजदूरों को उत्पन्न किया। इन मजदूरों में या तो वो लोग थे जो बसावट के दौरान भूमि से वंचित रहे या वे जो अपनी जमीनों से बेदखल हो गए। कुछ तो स्थानीय आदिवासी हैं और कुछ मजदूरी ढूंढते हुए पूर्वी उत्तर प्रदेश से तराई आ पहुंचे लोग हैं।

तराई जंगलों के मूल निवासी बोक्सा आदिवासी थे। वे जंगलों में छोटे-छोटे टुकड़ों पर खेती करते थे तथा मैदानी लोगों से बिलकुल जुदा थे। आजादी के बाद उन्हें अनुसूचित जनजाति का दर्जा मिला और उनकी जमीनों की खरीद-फरोख्त पर रोक लग गई। इसके बावजूद ज्यादातर बोक्सा आदिवासी आज भूमिहीन हैं। उनकी बेदखली की कहानी एक परिचित सी है; पहले जमींदारों से लिए ऊंचे ब्याज के कर्जे में फंस जाना और फिर लालची जमींदारों को जमीन का टुकड़ा बेचने को बाध्य होना। बोक्सा जमीनों की गैर-कानूनी खरीद के लिए स्थानीय पटवारियों ने एक 'फार्म' भी निकाला है। इस तरह आदिवासी जमीनों की खरीद रोकने वाले कानून आदिवासी लोगों की बेदखली को रोक तो नहीं सका पर इसने इस खरीद को गैर-कानूनी बनाकर आदिवासी जमीन का दाम कम कर दिया है। 20,000 रुपये प्रति एकड़ की यह जमीन आज 8,000 रु० प्रति एकड़ में बिकती है जिससे बेदखली की प्रक्रिया में और तेजी आ गई है और बोक्सा आदिवासी भूमिहीन मजदूरों में तबदील हो गए हैं।

इनके अलावा भूमिहीनों में शामिल होने वाले थे पंजाबी शरणार्थी, ज्यादातर निम्न जातियों के सिख जैसे राय सिख, जिन्हें बसावट में कोई जमीन नहीं दी गई थी। गरीब पहाड़ी किसानों और पूर्वी उत्तर प्रदेश के मजदूरों ने भूमिहीनों की संख्या में इजाफा किया। फिर भी भूमिहीनों में बड़ी संख्या बंगाल से आये शरणार्थियों की है। इनमें से कई को जमीन नहीं मिली और कुछ तराई जैसी भूमि में खेती न जानने के कारण अपनी जमीनें अमीर किसानों को बेच आए। तराई में बंगाली आज या तो भूमिहीन हैं या थोड़ी-सी जमीन रखते हैं। लोगों ने हमें बताया कि यदि बंगाली मजदूर एक भी दिन की हड़ताल करें तो तराई में कयामत आ जायेगी।

पर, कृषि उत्पादन में मजदूरों की इतनी महत्वपूर्ण भूमिका और इलाके की सम्पन्नता के बावजूद मजदूरों को पूरे साल न्यूनतम मजदूरी भी नहीं मिलती। जहां कटाई के समय वेतन 25 रु० प्रतिदिन हो जाता है, वहां अधिकांश समय 9 रु० प्रतिदिन ही मिलता है, जो न्यूनतम से काफी कम है। औरतों को इससे भी एक रुपया कम और बच्चों को केवल आधा ही मिलता है पर वास्तव में मजदूरों के हाथ इतना भी नहीं आता। जो भूमिहीन बड़ी जागीरों की जमीन पर रहते हैं वे जमींदारों की चलाई दुकानों से ही सामान खरीद सकते हैं जहां सामान बहुत महंगा बिकता है। इस तरह मजदूरों का वेतन जमींदार के पास वापस चला जाता है। जो फार्म पर नहीं रहते उन्हें ठेकेदार काम पर लगाता है और वेतन का एक-तिहाई हड़प लेता है।

तराई के भूमिहीन केवल वेतन भोगी मजदूर नहीं हैं और बटाई पर काम भी करते हैं। इसमें वे खेती का सारा खर्च उठाते हैं और आधी फसल जमींदार ले

लेता है। कुछ जगह खर्च का एक हिस्सा जमींदार भी देता है। भूमिहीन अनेक प्रकार के काश्तकारी रिश्तों में काम करते हैं और किराया नकद या फसल के रूप में चुकाते है। ये विभिन्न प्रकार के काम के रिश्ते भिन्न प्रकार के जमींदारों की प्रतिछाया है जैसे पुराने नवाब परिवारों से लेकर सहकारी समितियों और उद्योग के लिए पैदावार करने वाले अलग-अलग किस्म के जमींदार तराई पर आमादा हैं। कुछ ने तो फार्मों पर छोटी औद्योगिक इकाईयां भी शुरू की हैं।

पर इन सब भिन्न जमींदारों में एक समानता है—अपने अधिकारों के लिए और अत्याचार के विरुद्ध लड़ते हुए मजदूरों के प्रति पाशविक रवैया। फार्म पर काम करने वाले मजदूरों को कई प्रकार के अत्याचारों का सामना करना पड़ता है। ये सड़क के किनारे रहने वाले लोग गुण्डों और पुलिस की दया पर निर्भर हैं। इसलिए भूमिहीनों का मुक्ति का सपना है, अपने लिए कुछ जमीन हासिल करना जिससे जमींदारों, पुलिस और गुण्डों के शासन से कुछ राहत प्राप्त हो।

यह आशा और बढ़ गई जब 1972 में लैंड सीलिंग कानून नैनीताल तराई में लागू होना शुरू हुआ। इस कानून के अनुसार कोई भी परिवार 18 एकड़ से ज्यादा सिंचित भूमि नहीं रख सकता। पर इस एक्ट के अमल ने भूमिहीनों की आशाओं पर पानी फेर दिया। जबकि चन्द जमींदार तराई के बड़े भाग के मालिक थे। सरकारी आंकड़े केवल परिचालन जोत-क्षेत्र की बात करते हैं जिससे वास्तविक कब्जों की स्थिति साफ नहीं होती। इसलिए इन आंकड़ों से निकाले गए नतीजे जमीन के असमान वितरण के तीखेपन को नहीं उभार पाते। इसके बावजूद भी यह आंकड़े यह दिखाते हैं कि तीन प्रतिशत बड़े किसान सीलिंग से अधिक भूमि के मालिक हैं और उनका तराई की 24 प्रतिशत जमीन पर कब्जा है। दूसरी तरफ तराई के 55 प्रतिशत छोटे किसानों के पास महज 15 प्रतिशत जमीन है। इस गिनती से उपजाऊ भूमि का एक-चौथाई भाग सीलिंग के तहत अतिरिक्त होना चाहिए।

पर सीलिंग कानून लागू करने के समय सरकार ने मात्र 1.4 प्रतिशत जमीन को अतिरिक्त घोषित किया। इसका 64 प्रतिशत ही सरकार अपने कब्जे में ले सकी और बाकी न्याय प्रक्रिया के विभिन्न स्तरों में उलझा हुआ है। इस कब्जे में ली गई भूमि का 61 प्रतिशत बांटा गया जिसका तीन-चौथाई भूमिहीनों के लिए निर्धारित हुआ और बाकी अलग-अलग सरकारी विभागों में बांट दिया गया। इस तरह सरकारी रपटों के अनुसार सीलिंग कानून में भूमिहीनों में केवल 0.4 प्रतिशत भूमि बांटी गयी। लेकिन कहानी यहीं खत्म नहीं होती।

उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा आयोजित एक अध्ययन के अनुसार अतिरिक्त जमीन प्राप्त किए लोगों में से 18% परिवार जमीन से बेदखल किये गये। या तो आबंटन केवल कागजी था या जमीनदारों ने जोर-जबरदस्ती से उन्हें हटा दिया। यही रपट

बताती है कि उन लोगों में से जो आज तक बेदखल नहीं हुए, आधे या तो ग्राम सभा के नजदीक हैं या जमींदार की गुण्डा शक्तियों का मुकाबला करने का दम रखते हैं। अन्य दस प्रतिशत को मिली जमीन अनुपजाऊ थी। जांच के दौरान हमें पता चला कि अतिरिक्त भूमि का आबंटन भी पहले से भूमिधारी परिवारों में हुआ। गदरपुर प्रखण्ड में एक स्वतन्त्रता संग्रामी ने, जो पहले से 250 एकड़ का मालिक है, अतिरिक्त भूमि का 30 एकड़ और प्राप्त किये।

तराई के जमीनदारों ने भी सीलिंग नियमों को मात देने के लिए विभिन्न तरीके खोज निकाले हैं। जैसे वे अपनी जमीन को गैर सिंचाई वाली घोषित कर देते हैं जिससे सीलिंग सीमा दुगुनी हो जाती है। यह तब है जबकि तराई की उपजाऊ जमीन का 70 प्रतिशत इलाका सींचित है और कुछ इलाकों में तो साल में तीन-तीन फसलें भी उग जाती हैं। इसके अलावा, फार्मों के सीलिंग सीमा से ज्यादा इलाके फर्जी स्कूल, सड़कों और अन्य इमारतों के नाम में दिखा दिया जाता है। जमीन काश्तकार के नाम भी दिखायी जा सकती है। यह काश्तकारों को बिना सूचना दिए होता है और यदि उन्हें पता लग जाता है कि उनके नाम से घपला किया जा रहा है तो उन्हें तुरन्त जमीन से बेदखल कर दिया जाते हैं। लिखित प्रमाण तो यहां तक भी दिखाते हैं कि जमीन जमींदार के पालतू जानवरों के नाम भी पंजीकृत है। और अगर यह घोषित हो भी जाए कि जमीन अतिरिक्त है तो जमींदार जानबूझकर अपने खेतों के बीच में प्लाट दे देते हैं जिससे कि वे डरा धमकाकर जमीन के नये आबंटित को खेती करने से रोक सकें। हमारी टीम ने यह भी पाया कि लैंड सीलिंग कानून ने तुलनात्मक रूप से छोटे खेतों 25 से 50 एकड़, पर ही प्रभाव डाला है, बड़े फार्म तो एकदम अनछुए रहे हैं।

परन्तु यदि सारी अतिरिक्त घोषित जमीन, 70,000 भूमिहीनों में बांट दी जाए तो भी हर परिवार के हिस्से में एक एकड़ भी नहीं आएगा। इसी सन्दर्भ में नैनीताल के भूमिहीनों ने अपना ध्यान जंगल की जमीन की ओर केन्द्रित किया है और यह जंगल नैनीनाल जिला की 60 प्रतिशत जमीन पर है।

वन और लोग

भारत के वन चार मुख्य एजेन्सियों द्वारा संचालित किए जाते है—वन विभाग, विकास विभाग, पंचायत एवं व्यक्तिगत इकाइयां। नैनीताल में 80 प्रतिशत जंगल, वन विभाग के आधीन हैं और 15 प्रतिशत विकास विभाग के नीचे है (जिन्हें सिविल या सोयम वन भी कहते हैं) और ये पर्वतीय क्षेत्रों में है और हरियाली से वंचित व पथरीले हैं। इस प्रकार तराई में वन विभाग ही मुख्य रूप से जंगलों का

मालिक है।

सब जंगल तीन वर्गों में—आरक्षित, सुरक्षित व अन्य, में बंटे हैं। यह वर्गीकरण सबसे पहले भारतीय वन अधनियम 1878 में हुआ तथा 1927 के अधिनियम ने इसे जारी रखा, साथ ही सरकार का वनों पर नियन्त्रण बढ़ा दिया गया। स्वतन्त्र भारत की सरकार ने एक नई वन नीति बनाई जो अब तक जारी है। जैसे-जैसे नए राज्य व संघ बने, उनकी सरकारों ने अपने-अपने वन अधिनियम पास कर दिए जिससे कि इन अधिनियमों व वन नीति के बीच का अन्तर बढ़ता गया। जहां, वन नीति वनों व पर्यावरण की रक्षा की बात करती है, ये अधिनियम, लोगों के अधिकारों के नियमन पर जोर देते हैं। आपातकाल से दौरान हुए 42 संशोधन ने वनों को राज्य सूची के स्थान पर समवर्ती सूची में डाल दिया। केन्द्र की वनों पर अधिक अधिकार हासिल करने की प्रक्रिया 1980 के वन (संरक्षण) अधिनियम और इसके 1988 के संशोधन से और आगे बढ़ी। इस आखिरी अधिनियम से, वन-भूमि के इस्तेमाल में परिवर्तन करने की सारी ताकत केन्द्रिय सरकार को दे दी गई। फिर भी, शुरुआत में हुआ वनों का तीन वर्गों में विभाजन अभी भी वही है।

'आरक्षित वन' वे हैं जिन पर लोगों का कोई अधिकार नहीं है। सुरक्षित वन में लोगों के अधिकार अभिलिखित है और छीने नहीं जा सकते। जंगल की बाकी जमीन पर लोगों को सभी अधिकार प्राप्त हैं लेकिन नैनीताल में 98 प्रतिशत जंगल 'आरक्षित' हैं तो बचे हुए 2 प्रतिशत 'सुरक्षित' हैं। इस प्रकार से व्यवहारिक रूप से सारे जंगल लोगों की सीमा के बाहर हैं।

फिर भी, 'आरक्षित वन' नाम के उपयोग का वन-भूमि के इस्तेमाल से कोई लेना-देना नहीं है। यह नाम केवल ऐसे क्षेत्र को सूचित करता है जो जो कि आरक्षित घोषित हो। यह बात तब एक दम साफ हो गई जब पूर्वी तराई के डिविजनल वन अधिकारी (डी० एफ० ओ०) ने हमें बताया कि उसका आफिस जो कि हल्द्वानी शहर के बीचोंबीच है, 'आरक्षित वन' के क्षेत्र में पड़ता है। तथ्य यह है कि तराई के अधिकांश वन 'उपयोग योग्य' वनों के रूप में वर्गीकृत हैं। इसका मतलब हुआ कि ये आरक्षित' और 'संरक्षित' वन, वन विभाग के ठेकेदारों द्वारा साफ किए जा सकते हैं तथा 'उपयोगी' वृक्ष पुनः उस जमीन पर उगाए जा सकते हैं। इसलिए कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है कि तराई में प्राकृतिक वन बहुत थोड़े से इलाके में हैं जबकि सरकारी आंकड़ों के हिसाब से करीब 69 प्रतिशित इलाका वनों से भरा हुआ है। इस सिलसिले में, आखिरी वन अधिनियमों ने केवल जंगल को काटने की ताकत, राज्य सरकार से केन्द्रीय सरकार को हस्तांतरित कर दी है। हमारी टीम ने पाया कि ज्यादातर वनों में यूकेलिप्टस, सागौन और खैर के रोपण हैं। यूकेलिप्टस लगाने का उद्देश्य तो पेपर मिलों को कच्चा माल सप्लाई करना

ही नजर आता है।

1981 में हल्द्वानी तहसील के लालकुआं में बिरला ने सेन्चुरी पल्प और पेपर मिल लगाई। हालांकि शुरू में फैक्ट्री के निर्माण के लिए 25 एकड़ जमीन दे दी गई और अब यह मिल, आरक्षित वनों की 500 एकड़ जमीन 99 साल की लीज पर हासिल कर चुकी है।

ये वन भूमि लगभग 500 परिवारों को बेदखल करके प्राप्त की गई थी लेकिन क्योंकि ये परिवार इस जमीन पर बिना अधिकार के रह रहे थे अतः इन्हें मुआवजा मिलने का सवाल ही नहीं उठता। अपनी जमीन पर अधिकार बनाए रखने की लड़ाई में इन लोगों पर घोड़ानाला में गोली चलाई गई। दूसरी तरफ इस कागज मिल को बहुत ही सस्ते दामों पर वन विभाग से कच्चा माल मिलता है। जबकि यूकेलिप्टस के बाजार में 80 रु० प्रति क्विंटल पर बेचा जाता है, इस मिल को यही लकड़ी 17 रु० 30 पै० प्रति क्विंटल की कीमत पर मिलती है। बिरला के अलावा वन भूमि पर अधिकार पाने अन्य हैं, केन्द्रीय भारतीय औषधीय वनस्पति संगठन (286 एकड़), हल्द्वानी स्टोन कं० और फलाहारी बाबा आश्रम समिति।

वन विभाग ने वन भूमि पर छोटे समय के लिए पट्टे देने की एक योजना भी बनाई है। इसमें रोपण के दौरान लगाए पेड़ों की कतारों के बीच की जमीन खेती के लिए दी जाती है। ये पट्टे लगभग तीन साल के लिए दिए जाते हैं—एक रोपण से अगले रोपण तक। रोपण बरबाद होने पर पट्टों की अवधि बढ़ा दी जाती है। पर ये पट्टे भी भूमिहीनों के लिए नहीं हैं। पट्टे के अधिकारों की सरकार नीलामी करती है जिससे कि यह जमीन भी इलाके के प्रभावशाली लोग हथिया लेते हैं। कई जगह यही जमीन भूमिहीनों को बटाई पर दी जाती है। डी० एम० ने टीम को बताया कि ये पट्टे भूमिहीनों को नहीं दिए जाते क्योंकि भूमिहीन जमीन को खाली नहीं करेंगे। दूसरी ओर, लोगों ने हमें बताया कि पट्टा लेने वाले लोग भी रोपण को नष्ट कर देते हैं जिससे कि पट्टे की अवधि बढ़ जाती है।

इस सब का सार यह निकलता है कि सरकार पर्यावरण संरक्षण और वन बचाने के नाम से किसी भी इलाके को आरक्षित घोषित कर सकती है। इससे जनता के जमीन पर सारे अधिकार छीने जाते हैं। लोगों को बेदखल करने के वक्त उन्हें पीटा जाता है, गोली चलाई जाती है, घर जलाए जाते हैं और इनका घरेलू सामान लूट लिया जाता है।

यही जमीन फिर या तो उद्योगपतियों को दी जाती है या वन विभाग खुद ही जंगलों का सफाया कर बाजारू काम शुरू करता है। एक तरफ तो लोगों का जंगल से पेड़ काटना या सूखी लकड़ी और पत्ते बटोरना "वन सम्पत्ति की चोरी" कहलाता है, परन्तु दूसरी तरफ जंगल विभाग खुद ही पूरा जंगल काटकर बड़े

उद्योगपतियों को एक चौथाई से कम दाम पर लकड़ी देता है। इस तरह हमारे देश की वन नीति लोगों को जंगल के उत्पाद से महरुम रखने का एक षड्यन्त्र है। अपने एक दशक से लम्बे आन्दोलन से तराई के लोगों ने साफ तरह से दिखाया है कि उन्होंने सरकार की इस एक-तरफा नीति को हराने की ठान ली है।

सरकार और जन आन्दोलन

तराई की जनता के आन्दोलन का इतिहास दो दशक से लम्बा है और इन संघर्षों का अधिकांश भाग केवल लोगों की याददाश्त में मौजूद है। फिर भी इन सब भिन्न संघर्षों का केन्द्रीय विषय एक ही है—भूमिहीनों की जमीन पर अधिकार की लड़ाई। आजादी के आन्दोलन का यह भूला हुआ लक्ष्य तराई में आज चल रहे आन्दोलनों का आधार बन गया है।

I

इस क्षेत्र के सबसे पहले आन्दोलन उन शरणार्थियों के थे जिन्हें बसावट में कोई जमीन नहीं दी गई थी। 1960 दशक के अन्त में भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के द्वारा चलाए गए इस आन्दोलन के दौरान कई नए गांव बसाए गए। 1970 के दशक के शुरू में मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी ने सीलिंग कानून के तहत अतिरिक्त पाई गई भूमि पर कब्जा करने का संघर्ष छेड़ा। इसके अन्तर्गत तराई के सबसे बड़े निजी फार्म—प्रयाग फार्म—की जमीन पर कब्जा करने की कोशिश हुई। इस संघर्ष में तीन मजदूरों को फार्म के सुरक्षा बल ने मार दिया। परन्तु भूमिहीनों पर इस प्रकार के हमले निजी फार्मों तक ही सीमित नहीं है। अप्रैल 1978 में पन्तनगर कृषि विश्वविद्यालय के राजकीय फार्म पर सरकार ने खुद ही भूमिहीनों का बेरहम तरीके से कत्लेआम किया। ये मजदूर न्यूनतम मजदूरी की मांग कर रहे थे।

जंगल की जमीन पर कब्जा करने का आन्दोलन भी इसी समय श्रमिक भूमिहीन किसान एकता मंच के द्वारा शुरू हुआ। यह पहला आन्दोलन था जिसमें तराई में बसे अलग-अलग प्रान्तों से आए सब भूमिहीन एक जुट हुए। 1980 तक इन लोगों ने बिन्दुखत्ता में 7000 एकड़ आरक्षित वन भूमि पर कब्जा कर लिया था। ये इलाका पश्चिम मे लालकुंआ से पूरब में गौला नदी तक फैला हुआ है। 1979 से ही बिन्दुखत्ता और नजदीक के खुड़ियाखत्ता और बौढ़खत्ता में बसे लोगों पर हमले शुरू हो गए थे। वन विभाग और पुलिस ने हाथियों तक से लोगों पर

हमले किये जिसमें कई लोगों के टांग और बाजू हाथियों के नीचे कुचले गए। संगठन के कार्यकर्ताओं को रासुका में बन्द कर दिया गया। इस प्रकार के क्रूर हमले 1983 तक लगातार चलते रहे और इसके बाद लोगों को मतदान के अधिकार और राशन कार्ड जारी होने शुरू हुए।

बिन्दुखत्ता में शुरू हुआ यह आन्दोलन 1985 तक तराई के अन्य भागों में चल रहे आन्दोलनों से जुड़ गया और तराई किसान सभा का गठन हुआ। आज यह उत्तर प्रदेश किसान सभा कहलाता है और इन्डियन पीपुल्स फ्रंट से सम्बद्ध है। यह संगठन आज जमीनों पर मालिकाना हक का संघर्ष कर रहा है जिन पर किसी का भी हक नहीं है (वर्ग-4 की जमीनें)। इनकी अन्य मांगें हैं—सीलिंग कानून को लागू करना, अतिरिक्त भूमि का भूमिहीनों में आबंटन, और गरीबों को सरकारी ऋण देना।

सामाजिक अत्याचार के खिलाफ भी कई संघर्ष हुए हैं। पिछले साल नवम्बर में पी० यू० डी०आर० और एक महिला संगठन सहेली ने महतोश मोड़(गदरपुर) में हुए सामूहिक बलात्कार और भूमिहीनों पर पुलिस यातनाओं के सन्दर्भ में एक जांच दल भेजा था। तब से वहीं के प्रगतिशील महिला संगठन, ने तीन अन्य बलात्कार की घटनाओं पर संघर्ष किए हैं और भूमिहीन महिलाओं के साथ बलात्कार और अपहरण की कई घटनाओं के तथ्य ढूंढ निकाले हैं। जिन शक्तियों से तराई की जनता लड़ रही है, उन ताकतों का कुछ अन्दाजा शायद मछली पकड़ने गई महिलाओं पर हुए हमले से जाहिर होता है। इस विषय में वहां की ग्राम सभा ने, जमींदारों और उनके गुण्डों के खिलाफ कुछ न कर पाने की हालत में, महिलाओं को मछली पकड़ने जाने में रोक लगा दी। इस तरह महिलाओं पर अत्याचार उनके रोज के जीवन और काम में बाधा बन जाते हैं। बलात्कार और अन्य अत्याचार तराई की जनता पर चल रहे सामाजिक दमन के ही अंग हैं।

फिर भी, मजदूर परिवारों के लिए भूमि ही केन्द्रीय समस्या है। उनके लिए समाज के जुल्मों से मुक्त होकर एक आत्मसम्मान का जीवन बसर करने का एक ही तरीका है—कुछ जमीन के खुद मालिक बनना। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए जंगल की भूमि और जमींदारों की सीलिंग से ऊपर जमीनों पर कब्जा करने के आंदोलन हुए। बड़े फार्मों पर संघर्षों में जमींदारों की सामाजिक, और राजनैतिक शक्ति के साथ-साथ सरकारी दमन का भी सामना करना पड़ा है। मौजूदा वक्त में जंगल की जमीन का कब्जा करना ही मजदूरों के सामने एक रास्ता है। लोगों की समझ में सरकार का दमन जमींदारों से कहीं कम है। उन्होंने बताया "सरकार तो पहले लाठी चलाती है, पर बड़े जमींदार तो सीधे ही गोली मारते हैं।"

जंगल की जमीन पर कब्जा करने का संघर्ष 1988 के अंत के महीनों में शुरू

हुआ जब उ० भू० कि० सं० के नेतृत्व में पंतनगर, शांतिपुरी, शक्ति फार्म और हल्द्वानी व किच्छा तहसीलों में आस पास के इलाकों के भूमिहीन कोटखर्रा में वन भूमि पर कब्जा करने के लिए एक जुट हुए। ये जमीन सरकारी रिकार्ड में आरक्षित वन भूमि है लेकिन इस पर कोई भी पेड़ मौजूद नहीं हैं—वन विभाग ने खुद इस जंगल को काट दिया है।

II

कुसुमदेवी मंडल का परिवार विभाजन के दौरान पूर्वी पाकिस्तान से शरणार्थी के रूप में आया था। लेकिन वे कोई रोजगार पाने में असमर्थ रहे और बंगला देश बनने पर पुनः अपने घर चले गये। वहां उनकी जमीन हथियाई जा चुकी थी। वे वापिस भारत आये और विभिन्न शरणार्थी कैम्पों में भटकते फिरे। आखिरकार वे तराई के 'शक्ति फार्म' पहुंचे और एक नर्सरी में मजदूर बन गये। बहुत ही कम वेतन दिये जाने के कारण उन्होंने 'शक्ति फार्म' छोड़ कर पन्तनगर के राजकीय फार्म पर मजदूरी करना शुरू कर दिया, जहां वे अब काम कर रहे हैं। इस फार्म पर लगभग 20,000 मजदूर काम करते हैं। इनमें से कुछ लोगों की तनख्वाह काफी अच्छी हैं और कुछ, घरों के लिए जमीन भी प्राप्त कर चुके हैं। लेकिन अधिकांश लोग कम वेतन पर काम करते हैं और उन्हें साल में छः महीने से ज्यादा काम नहीं मिलता। इस वजह से वे बड़े रियासती फार्मों पर रोजगार ढूंढने को विवश हुए।

गुरदयाल सिंह ने अपनी पैतृक जमीन भारत-पाकिस्तान विभाजन में खो दी। कुछ समय के लिए वे और उनके परिवार ने पंजाब के फिरोजपुर जिले में खेतीहर मजदूरी जैसे काम किया। तराई आने के बाद वे कई साल खेतीहर मजदूर थे और फिर उन्होंने सिंचाई विभाग की एक एकड़ जमीन पर कब्जा कर लिया। पंजाब और पूर्वी उत्तर प्रदेश से आए गए कई अन्य भूमिहीनों के साथ वे धोलाडाम गांव में बस गए।

पूर्वी उत्तर प्रदेश से आया एक परिवार करीब बीस साल से एक नवाब के फार्म पर बटाईदार था। अपने उपज का आधा वे नवाब को देते थे। जिस जमीन को वे बटाई पर लेते थे, लैंड-सीलिंग के अन्तर्गत अतिरिक्त घोषित की गई। इसके बाद इन्होंने, 30 अन्य बटाईदार परिवार सहित, नवाब को बटाई का हिस्सा देना बंद कर दिया। नवाब ने हथियारबंद गुण्डे भेजे, इनकी पिटाई की और जमीन से बेदखल कर दिया।

एक परिवार, जो गढ़वाल के चमोली जिले का है, अपने एक सैनिक सदस्य की आय पर गुजारा कर रहा था। सेना से रिटायर होने के बाद उन लोगों ने

भरण-पोषण में असमर्थता पाकर तराई की ओर रुख किया।

इस प्रकार के लोग थे जिन्होंने उ० भू० कि० सं० के नेतृत्व में कोटखर्रा की ओर 26 जनवरी 1989 को मार्च किया। इसकी तैयारियां तो 1988 के अंत में ही शुरू हो गयी थीं। 28 दिसम्बर को उ० भू० कि० सं० के कुछ नेताओं को वनों से लकड़ी जुटाने के झूटे आरोप में गिरफ्तार किया गया। उ० भू० कि० सं० का प्रचार पूरे जनवरी चलता रहा और पूर्वी तराई वन विभाग की डोली रेंज में कोटखर्रा की जमीन पर कब्जे में चरम पर पहुंचा। लगभग 4000 लोगों ने अपने संगठन का कार्यालय बनाने के लिए जमीन के एक छोटे से टुकड़े पर कब्जा कर लिया। लाल कुआं पुलिस स्टेशन की पुलिस और वन विभाग के अधिकारी मौके पर मौजूद थे लेकिन उन्होंने इसे रोकने की कोई कोशिश नहीं की।

इसके पांच दिन बाद प्रोविंशियल आर्म्ड कांस्टेबुलेरी (पी० ए० सी०), उत्तर प्रदेश पुलिस और वन विभाग के तीन-चार सौ सिपाहियों ने अपने बसने के लिए झाड़-झकाड़ साफ करते हुए लोगों पर आक्रमण किया। सिपाहियों ने निर्दयता के साथ लाठी-चार्ज किया और करीब 75 लोगों, जिनमें 25 महिलाएं थी, को उठा लिया। डोली रेंज के डी० एफ० ओ०, रुद्रपुर के एस० डी० एम० और खटीमा के एस० डी० एम० इस वारदात के चश्मदीद गवाह थे। पीड़ित लोगों ने बताया कि रुद्रपुर की एस० डी० एम० अल्का टण्डन ने जब देखा कि एक व्यक्ति राजसिंह के पिटाई के बाद भी खून नहीं निकला तो उसने सिपाहियों को डांटते हुए कहा, "तुम कैसे पीटते हो—ये तो अभी तक सफेद है।"

कैद लोगों को डोली रेंज मुख्यालय ले जाकर उनके पैसे व अन्य सामान को छीन लिया गया। इस जगह औरतों को छोड़ दिया गया। लेकिन टीम को बताया गया कि वन-विभाग के गार्डों ने औरतों का पीछा किया और उनसे छेड़खानी की। बाकी कैदियों को दो दिन तक यातनाएं दी गई। लोगों के अनुसार उन्हें पहले लाठियों से पीटा गया तत्पश्चात उन्हें लिटाया गया और उनके छाती और पेट पर लाठियां रखी गयीं। लाठी के सिरों पर पुलिस वाले खड़े हो गए। उ० भू० कि० सं० के एक कार्यकर्ता प्रदीप टम्टा और एक पत्रकार सुप्रिय लखनपाल बुरी तरह पीटे गये।

इसके बाद उन्हें दूसरी वन पोस्ट पीपल पड़ाव पर ले जाया गया जहां से 25-25 के दो समूह में विभाजित किया गया। एक समूह को हल्दवानी जेल भेजा गया जहां उन्हें आठ दिन बिताने पड़े। बाकी लोगों को खटीमा और चौखुटिया के जंगलों में ले जाकर उनके कपड़े उतरवाये गये और जंगल की मेहरबानी पर छोड़ दिया। हमें बताया गया कि यहां से कुछ लोग अभी तक वापिस अपने घर नहीं पहुंचे हैं।

पाशविक आक्रमण और यातनाओं के बावजूद फरवरी के दूसरे हफ्ते में लोगों ने जमीन दुबारा कब्जा ली। 19 फरवरी को एक बड़ी बैठक हुई जिसमें 4500